32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 415

अहिंसा : अध्ययन की एक दिशा

पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय

अहिंसा भारतीय परम्परा में एक विकसनशील आध्यात्मिक प्रयोग है और विभिन्न प्रयोगों द्वारा ही वह एक उच्चतम मानसिक गुण तथा नीति-धर्म के रूप में विकसित हुई है। अहिंसा का स्वरूप प्रयोगात्मक इस रूप में रहा है कि वह अन्य अनेक आध्यात्मिक तत्त्वों की तरह पूर्व से विश्वास-प्राप्त धर्म नहीं, प्रत्युत उसके पीछे व्यावहारिक परिणतियाँ और साधकों के अनुभवों के साक्ष्य दीख पड़ते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक अनुभव और मानसिक साधना द्वारा यह एक उपार्जित तथ्य के रूप में प्रस्तुत है, जो सदा विकासमान स्थिति में रहा है। इस विकासक्रम में अहिंसा जब तक अधिक व्यक्तिगत रही है, तब तक उसका व्यवहार-क्षेत्र में सामान्य परीक्षण नहीं हो सकता था, किंतु प्राचीन काल में जैसे-जैसे व्यक्तिगत अनुभवों की व्यावहारिक सिद्धि के रूप में सम्भावना की जाने लगी, वैसे-वैसे उसके वैज्ञानिक तथ्य के रूप में विकसित होने की धारणा पुष्ट होती गयी। बीसवीं शताब्दी में

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 416

महात्मा गाँधी ने इस आध्यात्मिक तत्त्व को व्यावहारिक तथ्य के रूप में ला कर खड़ा कर दिया। उन्होंने इस क्षेत्र में युगांतकारी साहस का परिचय दिया और इसके लिए उन्होंने राजनीति का क्षेत्र चुना, जो व्यावहारिक दृष्टि से बहुत ही विषम और जटिल होता है। इसके लिए धर्म और इतिहास में कूटनीति या अनीति को भी ग्राह्य, न्याय्य और क्षम्य माना है। गाँधी जी के महान् प्रयोगों ने इस दिशा की अग्रिम सम्भावनाओं को बहुत ही मुखरित कर दिया। अब हम इस स्थिति में हैं कि अहिंसा के इतिहास का तर्कसम्मत वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें और इसकी नयी व्यावहारिक सम्भावनाओं पर अपना विचार व्यक्त कर सकें।

प्राचीनकाल में ही प्रयोग की दृष्टि से अहिंसा के क्षेत्र को बहुत व्यापक समझा जाने लगा था। उसे बौद्धों ने 'अप्रमाण', जैनों ने 'महाव्रत' तथा पातञ्जलों ने 'सार्व-भौम महाव्रत' की संज्ञा दी है। इस प्रकार प्राचीनकाल में ही अहिंसा के निरपवाद नियम होने की क्षमता आकलित कर ली गयी थी।

अहिंसा की प्राचीनता

प्राचीन भारतवर्ष में अहिंसा के विकास के दो क्षेत्र रहे हैं— एक व्यक्तिगत साधना का तथा दूसरा व्यावहारिक कल्पना का। व्यक्तिगत साधना के रूप में विकास का एकमात्र श्रेय योगशास्त्र को है और उसकी व्यावहारिक सम्भावनाओं का सुविस्तृत विवेचन बौद्ध जातकों, महाभारत, त्रिपिटक, जैन आगमों एवं कथाओं में तथा इनके वर्ण्य विषयों पर जो पश्चाद्वर्त्ती साहित्य काव्य, नाटक, पुराण आदि लिखे गये हैं, उनके ऊहापोह के साथ वर्णित है।

योग की प्रामाणिकता में चार्वाक और मीमांसकों को छोड़कर किसी भी भारतीय दार्शनिक परम्परा में विवाद नहीं रहा है। यह स्पष्ट है कि योग में भी विश्वासलब्ध तत्त्वों की भावना के लिए पर्याप्त अवकाश है। इसके आधार पर परस्पर मतभेद भी रहा है, किंतु अहिंसा की स्थिति उनके भिन्न है। मतभेद रखते हुए भी सभी एकमत से अहिंसा की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। परिभाषा और विश्लेषण में भी प्रायः सभी समान हैं। अहिंसा की गणना बौद्धों के अनुसार 'शील' में, वैदिकों के अनुसार 'यम' में, जैनों के अनुसार 'अणुव्रतों' में की गयी है, जो वास्तव में प्रधान रूप से योग नहीं, योगाङ्ग हैं। यह अन्य नैतिक एवं व्यावहारिक दुर्गुणों— चोरी, असत्य, सुरापान आदि की विरतियों के साथ पठित है। इस प्रकार अहिंसा को अतर्क्य तत्त्व नहीं माना गया है। यही कारण है कि बहुत प्राचीनकाल में ही प्रयोग की दृष्टि से अहिंसा के क्षेत्र को बहुत व्यापक समझा जाने लगा था। उसे बौद्धों ने 'अप्रमाण', जैनों ने 'महाव्रत' तथा पातञ्जलों ने 'सार्व-भौम महाव्रत' की संज्ञा दी है। इस प्रकार प्राचीनकाल में ही अहिंसा के निरपवाद नियम होने की क्षमता आकलित कर ली गयी थी। पतञ्जलि यह स्वीकार करते हैं कि अहिंसा जाति, देश और काल की सीमाओं से बँधी हुई नहीं है :

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः
सार्वभौमा महाव्रतम्। 2/31/1

पुराने यज्ञवादियों ने तथा उनके पोषक मीमांसकों ने अहिंसा को सीमित करने का विपुल प्रयास किया है। उसमें उनको आंशिक सफलता भी मिली है। योगियों ने भी लोक-व्यवहार में विविध विवशताओं के कारण अपने ढंग से अहिंसा की सीमा मानी है, किंतु धार्मिक आधार पर नहीं। यहाँ तक कि वैदिक योगियों ने भी अहिंसा के समक्ष हिंसक यज्ञादि की श्रेष्ठता को कभी स्वीकार नहीं किया। योगियों के प्रभाव से मनु आदि धर्मशास्त्रकारों तक को यज्ञ के एक श्रेष्ठ विकल्प के रूप में अहिंसा को स्वीकार करना पड़ा। मनु किसी एकदेशी आचार्य का मत बताते हैं कि वे लोग यज्ञशास्त्रवेत्ता हैं, किंतु उसका अनुष्ठान न करके सदा विषयों का होम

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 417

इंद्रियों में करते हैं :

एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततं इंद्रियेष्वेव जुह्वति॥

(म. 4/22)

मनु स्वयं भी कहते हैं कि सभी श्रेयस्कर एवं अनुशासन पूर्ण कार्य अहिंसा से ही सम्पन्न हो सकते हैं :

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।।

(म. 2/159)

उक्त तथ्यों के आधार पर अहिंसा की मान्यता के संबंध में सभी भारतीय विचारकों का जो ऐकमत्य मालूम होता है, वह इतिहास के अनेक घात-प्रतिघातों का समन्वित परिणाम है, जिसे हम परवर्ती काल की भारतीय संस्कृति में प्रतिफलित पाते हैं। किंतु अहिंसा की मूल समस्या का हम तब तक आवश्यक विश्लेषण और समाधान नहीं कर पाएँगे, जब तक प्राचीन भारत की उन स्पष्ट दो धाराओं को ध्यान में नहीं रखेंगे, जिन्हें प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा ब्राह्मण और श्रमण अथवा ऋषि एवं मुनि अथवा हिंसक एवं अहिंसक नाम से जाना जाता है। इन दोनों प्रकार की धाराओं में भारतवर्ष का सम्पूर्ण बाह्य और आन्तर जीवन विभक्त रहा है। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में इस विभाजन को हम कभी अस्पष्ट, कभी ईषत् स्पष्ट और कभी अंतर्लीन पाते हैं। वर्तमान भारतीय जीवन भी इस विभाजन से अछूता नहीं है। इन सूक्ष्म तथा स्पष्ट प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बिना भारतीय जीवन के अंतरंग को समझना सम्भव नहीं है, न तो इसके बिना भारतीय समाज को कोई निर्बाध दिशा ही दी जा सकती है। इन विकासधाराओं के समुचित ज्ञान पर ही अहिंसात्मक प्रयोगों का वर्तमान और भविष्य बहुत कुछ निर्भर है। भारतीय परिवेश में अहिंसा का अंतर्राष्ट्रीय प्रयोग भी एक भिन्न प्रकार का ही होगा, इस तथ्य की ओर भी हमें ध्यान रखना होगा।

अहिंसा : श्रमण एवं वैदिक

अहिंसा का तत्त्व-ज्ञान और उसका प्रयोग श्रमणधारा की विशेषता है। इसका प्रारम्भ महावीर और बुद्ध से ही नहीं, प्रत्युत इसके प्रारम्भिक संकेत ऋग्वेद, ब्राह्मण ग्रंथों तथा विभिन्न प्रकार के प्राचीन सांख्य सम्प्रदायों में भी मिलते हैं। सम्भवतः इस प्रकार के सभी विचारक प्राचीन श्रमण-धारा के अनुयायी थे। महावीर और बुद्ध ने अपने सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों से इसे ऐसा महत्त्व प्रदान किया, जिससे इसके अनुरूप एक ओर तत्त्वज्ञान और आचार का विकास हुआ, दूसरी ओर हिंसासम्मत यज्ञयागादि विविध कर्मकाण्डों का विरोध भी खड़ा हुआ। श्रमण शम-प्रधान और निवृत्तिवादी थे। इनका प्रधान कर्त्तव्य था जीवनशोधन और उद्देश्य था— दुःखनिवृत्ति या निःश्रेयस। ब्राह्मणों का उद्देश्य ऐहिक एवं आमुष्मिक सुखभोग था और उनका प्रधान प्रयास था समाज में एक ऐसे सुदृढ़ वर्ग की सुरक्षा एवं व्यवस्था, जिसे विद्या, रक्षा और धन की किसी प्रकार कमी न हो। निवृत्तिवादियों में भी सर्वांश में समानता नहीं थी। बुद्ध में अपने सद्धर्म के विस्तार का अदम्य उत्साह था। वह विशेष प्रज्ञा के प्रकाश में ही सम्भव था, अतः उन्होंने प्रज्ञा पर विशेष ज़ोर दिया। महावीर ने व्यक्ति की शुद्धि और उसके आचार को विशेष महत्त्व दिया। दोनों में सम और शम, समता और शांति ऐसी समान मान्यताएँ थीं, जिन पर चलकर अहिंसा का विकास सम्भव होता। ब्राह्मणों का झुकाव सुख और व्यवस्था की ओर होने के कारण उनका विरोध विषमता, युद्ध या अशांति के प्रति नहीं

महावीर और बुद्ध ने अपने सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों से इसे ऐसा महत्त्व प्रदान किया, जिससे इसके अनुरूप एक ओर तत्त्वज्ञान और आचार का विकास हुआ, दूसरी ओर हिंसासम्मत यज्ञयागादि विविध कर्मकाण्डों का विरोध भी खड़ा हुआ। श्रमण शम-प्रधान और निवृत्तिवादी थे। ... ब्राह्मणों का उद्देश्य ऐहिक एवं आमुष्मिक सुखभोग था

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 418

था। अत: उनका आकर्षण अहिंसा की तरफ़ तब तक नहीं हुआ, जब तक यह सम्भावना खड़ी नहीं हो गयी कि अहिंसा भी यथासम्भव सुख और व्यवस्था का साधन बन सकती है। श्रमण जिस समाज में रहते थे वह बड़ा ही विषम और कोलाहलपूर्ण था। बुद्ध ने मानव प्रजा को थोड़े पानी में छटपटाती मछलियों के समान तड़फड़ाते देख कर, विश्व कितना भयाक्रांत है, इसका अनुभव किया :

फंदमानं पजं दिस्वा मच्छे
अप्पोदके यथा।

इसमें समता और शांतिमूलक व्यवस्था अवश्य थी, अत: इसके लिए यह आवश्यक हुआ कि वे व्यक्तिगत अहिंसा का समाजोन्मुख प्रयोग करें। इन दोनों धाराओं के कारण शताब्दियों-शताब्दियों तक हिंसा और अहिंसा के सामर्थ्य तथा धर्म-अधर्म्य के संबंध में ऊहापोह एवं शास्त्रार्थ होता रहा। यह कार्य विचार और साधना के क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक और व्यावहारिक क्षेत्र में भी हुआ।

यद्यपि अहिंसा के विकास की दृष्टि से अब तक भारतीय इतिहास का परिशीलन नहीं किया गया है, तथापि इस प्रकार के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री विकीर्ण रूप में मिलती है। अति प्राचीन काल में जैनों में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर द्वारा किये प्रयोगों का संग्रह होना चाहिए। कहा जाता है कि तीर्थंकर नेमिनाथ के विरोध से विवाह आदि उत्सवों में होने वाले पशुओं का वध और मत्स्य, मांस, सुरा आदि जैसी फ़िजूलख़र्ची बंद हुई थी। काशीराज अश्वपति के कुमार पार्श्वनाथ ने उस समय की प्रचलित तपस्याओं द्वारा होने वाली अनेकानेक प्रकार की हिंसाओं का विरोध किया था। महावीर स्वामी के कार्यों का साक्ष्य प्राचीन जैनागमों में सुरक्षित ही है।

तीर्थंकर नेमिनाथ के विरोध से विवाह आदि उत्सवों में होने वाले पशुओं का वध और मत्स्य, मांस, सुरा आदि जैसी फिजूलख़र्ची बंद हुई थी। ... बुद्ध ने ... अपनी आलोचनाओं से हिंसा के विरोध में केवल लोकमत ही तैयार नहीं किया, अपितु हिंस्र राजन्यों और ब्राह्मणों के बीच उपस्थित हो कर हज़ारों-हज़ार यज्ञीय पशुओं को छुड़वाया और यज्ञयूपों को तुड़वाया।

भगवान् बुद्ध अहिंसात्मक आंदोलन के प्रवर्तकों में महानायक हैं, जिन्होंने व्यक्ति, समाज और धर्म के क्षेत्र में प्रचलित हिंसा का एक साथ विरोध किया। उन्होंने अपनी आलोचनाओं से हिंसा के विरोध में केवल लोकमत ही तैयार नहीं किया, अपितु हिंस्र राजन्यों और ब्राह्मणों के बीच उपस्थित होकर हज़ारों-हज़ार यज्ञीय पशुओं को छोड़वाया और यज्ञयूपों को तुड़वाया (देखें, दी. नि. कूटदंत सुत्त)। उन्होंने अपने सैकड़ों-सैकड़ों अनुयायियों को स्वयं अहिंसक आचरण एवं व्यवहार का प्रशिक्षण दिया, जो हिंसक समाज में पहुँच सद्धर्म का प्रचार करें तथा विरोधी के प्रति मरणान्त अपनी अहिंसक वृत्ति को न छोड़ें। बुद्ध का कहना था कि दोनों तरफ़ से डण्डे और भाले चलते हों, उनकी चोट से अंग-अंग छिद गया हो, उतने पर भी हमारे अनुयायी के मन में दोस (द्वेष) आ जाए तो वह धर्मशासन की रक्षा नहीं कर सकता। इस परिस्थिति में घिरा हुआ व्यक्ति हिंसक को यह दिशा दे :

न चेव नो चित्तं विपरिणतं भविस्सति,
न च पापिकं वाचं निच्छारेस्साम,
हितानुकम्पी च विहरिस्साम,
मेत्तचित्ता न दोसंतरा।

(*मज्झि.* ककचूपमसुत्त)

दो सीमाओं में स्थित नदी के पानी को लेकर लिच्छवी और वज्जियों के बीच होने वाले संघर्ष को बुद्ध द्वारा बचाने का प्रयास, उनके द्वारा अंगुलिमाल जैसे भयंकर डाकुओं को सुधारने का प्रयत्न अहिंसक प्रयोगों की सफलता का निदर्शन है। जैन एवं बौद्ध साहित्य में वर्णित ऐसी घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके अहिंसा की शक्ति की व्यापक सम्भावनाएँ समझी जानी चाहिए।

अहिंसा : अध्ययन-सामग्री

यह जानने की बात है कि बौद्ध एवं जैन धर्मों के अनुयायियों, उनके गणतंत्रों और राजाओं द्वारा समाज-सुधार और धर्मप्रचार का कौन-सा अहिंसक मार्ग अपनाया गया था, जिससे कहीं भी विपक्षियों के ख़ून का एक क़तरा भी नहीं गिरा और शताब्दियों-शताब्दियों तक प्रजा पर श्रमण विचारों का प्रभाव छाया रहा। देश में ही नहीं, सुदूर विदेशों तक सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में निहत्थे बौद्ध भिक्षु पहुँच कर धर्म का अटूट प्रभाव स्थापित कर सके थे। उसके पीछे कुछ ऐसी अदम्य शक्तियों का संकेत है, जिससे हज़ारों क़ुर्बानियों के बाद भी पीछे न हटकर उसकी प्रेरणा से धर्म आगे ही बढ़ता गया। हमें एशिया के विभिन्न देशों के ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर उस कार्यविधि का अध्ययन करना होगा। अवश्य ही उससे विभिन्न प्रकार के अहिंसात्मक प्रयोग सामने आएँगे। अपने देश में ही अशोक और उनके पुत्र एवं पौत्र, कनिष्क, कलिंगराज खारवेल, गुर्जर प्रतिहार सिद्धराज, कुमार-पाल, धर्मपाल आदि ऐसे दर्जनों ऐतिहासिक राजाओं के नाम हैं, जिनकी शासन-विधि के आधार पर हम ऐसे निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जो अहिंसा के विकास में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

अहिंसा के संबंध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए श्रमण एवं ब्राह्मणों द्वारा अहिंसा या हिंसा की श्रेष्ठता और उपयोगिता सिद्ध करने के लिए काव्य, कथा, पुराणों और जातकों में लिखित ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक या अनैतिहासिक घटनाओं के संयोजन करने का जो भावात्मक एवं कलात्मक प्रयास किया गया है, उससे भारतीय संस्कृति के हिंसा-अहिंसा प्रधान पक्षों पर महत्त्वपूर्ण आलोक पड़ता है। उससे दोनों पक्षों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का भी अध्ययन होता है। इसमें *महाभारत* के अनेकानेक स्थल जैसे *श्रीमद्भगवद्गीता* आदि, अश्वघोष, कालिदास के काव्य-नाटक, आर्यशूर, सुबंधु, बाण के काव्य सहायक होंगे। इसी प्रकार *प्राकृत काव्य* और अन्य जैन ग्रंथों में *पउमचरिय, रयणचूडरायचरिय, निशीथ-चूर्णि, उपदेशमाला, कथाकोश* आदि इस प्रकार के अध्ययन में उपयोगी हैं। उदाहरणस्वरूप व्याघ्री जातक के आदर्श को लें— बोधिसत्त्व ने दूर से भूख से तड़फड़ाती व्याघ्री को, जो तत्काल प्रसव से पैदा हुए अपने ही बच्चों को खाने जा रही थी, देख, अपने अनुयायी शिष्य को कुछ ले आने के लिए भेज कर स्वयं अपने को ही समर्पित कर दिया और व्याघ्री के बच्चों को और अपने शिष्य को बचा लिया। ढूँढ़ते हुए शिष्य ने अंत में गुरु की हड्डियाँ ही प्राप्त कीं। इस अहिंसक आदर्श के जबाब में कालिदास के *रघुवंश* में गुरु की गौ नंदिनी को बचाने के लिए व्याघ्र के समक्ष अपने को समर्पित न करके क्षत्रिय धर्म के अनुसार दिलीप ने बाण खींचा, किंतु तरकस से हाथ सट जाने के कारण स्वयं अपने को ही अर्पित कर देना चाहा। इस घटना की पूरी संरचना और वहाँ के कथोपकथन से क्षत्रिय धर्म की श्रेष्ठता और हिंसा की कथंचित् उपयोगिता स्पष्ट की जाती है। अश्वघोष और कालिदास के सभी काव्य एवं नाटक इस दृष्टि से हिंसा-अहिंसा के बीच वाद-प्रतिवाद के रूप में मिलते हैं। *महाभारत* भी इस दृष्टि से बहुत ही सम्पन्न है। *गीता* के अतिप्रसिद्ध प्रसंग को ही लें— अर्जुन द्वारा प्रारम्भ में यद्यपि उत्कृष्ट कोटि की त्यागपूर्ण अहिंसा-वृत्ति का उल्लेख कराया गया है, किंतु उसके जवाब में पूरी गीता में अहिंसा के गुणों को मात्र अनासक्ति से ही समन्वित कर क्षात्र-धर्म और हिंसा को श्रेष्ठ रूप में खड़ा किया गया है। इस प्रकार के प्रसंगों के सूक्ष्म अध्ययन से हम केवल अपनी संस्कृति को ही नहीं पहचानेंगे, अपितु उससे हमें हिंसा और अहिंसा के मूलभूत प्रश्नों को लेकर आधुनिक संदर्भ में भी सोचने में सहायता मिलेगी।

भारतीय जीवन में अहिंसा के संबंध में हज़ारों वर्षों से अंत:शोध तथा व्यावहारिक प्रयोग चल रहे हैं, किंतु अभी तक वे अपने प्रयोगावस्था में ही हैं। किसी प्रयोग को दर्शन की कोटि में आने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रयोगों और मान्यताओं के आधार पर विचार

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 420

प्रतिफलित हों और वे परम्परागत विचार प्रयोगों से समर्थित एवं परीक्षित हों। भारतवर्ष ने इस विषय में ऐतिहासिक-अनैतिहासिक विस्तृत काल में जो अनुभव प्राप्त किये हैं, किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए उनका पर्याप्त विश्लेषण होना चाहिए। भगवान् महावीर और बुद्ध ने अहिंसा का दार्शनिक आधार भी प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से अनेकांतवाद और मध्यममार्ग का अध्ययन किया जाना चाहिए। इसी प्रकार परवर्ती वैष्णव आचार्यों द्वारा भी इस दिशा में कुछ कार्य किया गया है, जिसका मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण होगा। इन दृष्टियों से इस निबंध में कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। किंतु यह सब अहिंसा का बहिरंग स्वरूप है। उसका जो अंतरंग है, अर्थात् उसके अपने अंदर का ही स्वगत विकास है, जो विशेष रूप से मानसिक और आध्यात्मिक साधना का क्षेत्र है, वह व्यक्तिगत किंतु सफल प्रयोग की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अंतरंग विवेचन में यह देखा जा सकता है कि प्राचीन भारत की मनीषा या उत्क्रांति अहिंसा के विकास की किस मंजिल तक पहुँची थी और बाद में महात्मा गाँधी के युगांतकारी प्रयासों से सामाजिक एवं राजनीतिक प्रयोगों से उसमें क्या प्रगति हुई। इसके आधार पर हम अहिंसा के भविष्य की सम्भावनाएँ भी आकलित कर सकते हैं।

अहिंसा का उद्गम

मानवीय विकास के किस स्तर पर किस क्रम में मानव-मन में अहिंसा का बीज अंकुरित हुआ होगा, इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यहाँ विकसित समाज के बीच ही उसके उद्गम को समझना अभीष्ट है। किसी स्थान-विशेष में कब और कैसे इसका विकास हुआ, इसका निश्चय करना भी कम कठिन नहीं है। यहाँ तक कि ऐतिहासिक तिथियों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि अहिंसा का उद्गम भारतवर्ष में कब और कहाँ हुआ, किंतु इतना विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक घात-प्रतिघातों में से ही यह भावना उद्गत हुई होगी। उसका काल ऋग्वेद के बाद भगवान् बुद्ध तक, लगभग एक सहस्त्र वर्षों का होना चाहिए। यह काल ऐसी संस्कृति और धर्म-विशेष को प्रतिष्ठित करने का है, जो अपने को जाति, विद्या और शक्ति में बहुजन से श्रेष्ठ समझती थी और एकराट्, अधिराट् राज्यों के विस्तार के लिए तत्पर थी। तत्कालीन समाज में आध्यात्मिक दृष्टि से चेतन लोगों को प्रतिदिन की नोच-खसोट, युद्धों की ख़ून-ख़राबी, यज्ञ-यागादि, धार्मिक कर्मकाण्डों के नाम पर पशुहिंसा, सुरामैरेय, हिरण्यादिदान से महीनों और वर्षों चलने वाले सत्रों के कोलाहल में अपने को मानसिक दृष्टि से संतुलित रखना तथा व्यावहारिक बाधाओं से बचाए रखना मुश्किल होने लगा होगा। इस विषम स्थिति में से ही कुछ मनीषियों को पहले समाज के प्रति उदासीनता की वृत्ति पैदा हुई होगी। किंतु उदासीनता पुरुषकार को सीमित करने लगती है और वह व्यक्ति की दृष्टि से भी समस्याओं का पूरा हल नहीं देती, अत: उन्हें किसी ऐसी शक्ति की तलाश होगी, जिसके द्वारा वे विरुद्ध परिस्थितियों में भी अपने को अविचलित एवं नि:संग रख सकें और समाज पर भी अपने विशेष आचरण का अनुकूल प्रभाव डाल सकें। इस चिंतन एवं शोध-प्रक्रिया में से ही अहिंसा-वृत्ति का भान होने लगा होगा। ऐसे उदासीन मुनियों का अपनी गुफ़ाओं के इर्द-गिर्द आने-जाने और

किस क्रम में मानव-मन में अहिंसा का बीज अंकुरित हुआ होगा ... उसका काल ऋग्वेद के बाद भगवान बुद्ध तक, लगभग एक सहस्त्र वर्षों का होना चाहिए। यह काल ऐसी संस्कृति और धर्म-विशेष को प्रतिष्ठित करने का है, जो अपने को जाति, विद्या और शक्ति में बहुजन से श्रेष्ठ समझती थी और एकराट्, अधिराट् राज्यों के विस्तार के लिए तत्पर थी।

रहने वाले पशुओं से सम्पर्क होता होगा। फलत: अपने प्यार और संग का प्रभाव उन विजातीय सहवासियों पर पड़ता देख उन्हें अपने मानसिक गुण और सौम्य व्यवहार पर भरोसा बढ़ता गया। इसी पर से उन्हें यह सूझने लगा होगा कि मनुष्य और पशुओं के बीच यदि इस प्रकार की सम्भावना है तो मनुष्य-मनुष्य के बीच वह सम्भव क्यों नहीं ? समाज में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अशांति और वैषम्य का अंत न देखकर परम्परा से प्रचलित और शास्त्रों में प्रतिपादित इन धार्मिक एवं सामाजिक कार्यकलापों के प्रति जनसाधारण में उनका महत्त्व घटने लगा और तत्त्वचिंतकों के प्रयासों से कुछ नये निष्कर्ष निकलने लगे। द्वेषपूर्ण कार्यों से, हिंसापूर्ण अनुष्ठानों से, भोग-विलास से लोक में फैले द्वेष, अशांति और दु:ख को मिटाया नहीं जा सकता, यह तथ्य स्पष्ट होने लगा। इन मानसिक प्रतिघातों में से अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट होने लगा।

ऊपर वर्णित चित्र के पीछे केवल सम्भावनाएँ नहीं हैं, अपितु उसकी प्रामाणिकता के लिए अथर्ववेद, उपनिषद्, महावीर और बुद्ध के समसामयिक समाज में व्याप्त दुरवस्था तथा उसके विरोध में विविध विरक्त सम्प्रदायों तथा महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों द्वारा किये गये आंदोलन एवं प्रवचन साक्षी हैं।

अहिंसा : चेतना और कर्म

अहिंसा के स्थूल संकेतों का उद्‌गम व्यावहारिक घात-प्रतिघातों के बीच सम्भव है, किंतु उतने मात्र से उसे प्रतिष्ठा और मान्यता नहीं मिल सकती थी। प्रतिष्ठा के लिए कोई सूक्ष्म और गम्भीर आधार चाहिए जो मनुष्य में महत्त्वपूर्ण स्थान बना सके, ऐसा उसके मानसिक गुण ही हो सकते हैं। वास्तव में व्यवहार का केवल बाह्य-पक्ष किसी भी कर्म के अच्छा या बुरा होने का निर्णायक नहीं हो सकता। कर्म का मूल उसकी चेतना है। उस प्रेरक चेतना के विश्लेषण के आधार पर ही नैतिक दृष्टि से सदाचार और अनाचार का निर्णय लिया जा सकता है। इसी दृष्टि से बुद्ध ने चेतना को ही कर्म कहना उचित समझा :

चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि।
चेतयित्वा कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा।
(अ.3-415)

चेतना ही अपने साथ सभी प्रकार की वृत्तियों को लेकर कार्यविशेष में जुटती है और उसी का अनुसरण मनुष्य के काय, वाक् और मन भी करते हैं। जैनों का 'भाव-कर्म' अन्य द्रव्य कर्मों से श्रेष्ठ है, जो एक प्रकार की चेतना है, वह आत्मा में संस्कार विशेष के रूप में स्थित रहती है :

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
(सर्वार्थसिद्धि, सू. 7/13)

प्राचीन वैदिकों में सत्कर्म, दुष्कर्म सभी देवताओं के या ईश्वर के हाथ था, किंतु परवर्ती सांख्य से प्रभावित होकर त्रिगुणों के आधार पर उनका उद्‌गम और निर्णय स्वीकार किया गया, जो बुद्ध का ही धर्म था। इसीलिए बाद में सांख्य के माध्यम से वैदिक परम्परा में अहिंसा का महत्त्व बढ़ा हुआ पाया जाता है। परवर्ती काल में अहिंसा को सभी ने मानसिक गुण मान लिया, किंतु उसमें भी प्रमुखता-अप्रमुखता की दृष्टि से और प्रयोग-भेद से बहुत बड़ा अंतर है। जैन और वैदिक उसके बाह्य रूप पर अधिक ज़ोर देते हैं, क्योंकि वे बौद्धों की तरह मन या चेतना को ही कर्म नहीं मान लेते। यह सब और स्पष्ट हो जाता है, जब पाप के प्रायश्चित के लिए जैन और वैदिक तप द्वारा विविध प्रकार से देह को दण्डित करते हैं अथवा यज्ञ में पशुओं का वध और अधिकाधिक द्रव्य व्यय कर

जैन किसी भी दशा में मांसाहार को नहीं स्वीकारते, जबकि बुद्ध चित्त से उसका प्रत्यक्ष संबंध होने पर ही निषिद्ध मानते हैं। सिंह सेनापति के यहाँ बुद्ध और संघ के मांस-भोजन पर जैनों ने नगर में— 'अज्ज सीहेन थूलं पसुं बधित्वा समणस्य गोतमस्स भत्तं कतं' ऐसा कहकर हाहाकार मचा दिया।

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 422

देते हैं। नालंदा में बुद्ध के समक्ष दीर्घतपस्वी नाम के एक जैन निगंठ साधु ने अपने शास्ता महावीर का सिद्धांत कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड बताया तो बुद्ध ने अपना सिद्धांत कायकम्म, वचीकम्म तथा मनोकम्म कहा और उसमें भी बुद्ध ने काय और वाक् कर्मों को आनुषङ्गिक बताया और एकमात्र मनः कर्म को ही महत्त्व दिया। बुद्ध कहते हैं कि सभी मनुष्य चित्तगत क्लेशों से दुःखी हैं और उसके मिटाने से ही दुःख मिटेंगे। यदि चित्त सुरक्षित न रहा तो काय, वाक् तथा मनः कर्म सभी असुरक्षित हो जाएँगे। बुद्ध कर्म की सत्ता वहाँ मानते हैं, जहाँ से वह उठता है और वह मन है, काय और वाक् उसका विज्ञापन मात्र करते हैं :

अंह तपस्सि, तिण्णं कम्मानं मनोकम्मं
महसावज्जतरं पञ्ञपेमि।

(*म. नि. उपालि सु.*)

इसीलिए उनकी अहिंसा जैनों से भिन्न हो जाती है। जैन किसी भी दशा में मांसाहार को नहीं स्वीकारते, जबकि बुद्ध चित्त से उसका प्रत्यक्ष संबंध होने पर ही निषिद्ध मानते हैं। सिंह सेनापति के यहाँ बुद्ध और संघ के मांस-भोजन पर जैनों ने नगर में— *अज्ज सीहेन थूलं पसुं बधित्वा समणस्य गोतमस्स भत्तं कतं* ऐसा कहकर हाहाकार मचा दिया। उस समय बुद्ध ने बताया कि यदि उसी उद्देश्य से वध किया गया है और वह ज्ञात हो तो उसे नहीं खाना चाहिए, इसलिए :

अनुजानामि भिक्खवे, तिकोटिपरिसुद्धं मच्छमंसं
अदिट्ठं असुत अपरिसंकितं ति।

(वि. पि. महाभेषज्जसुत्त)

एक ब्राह्मण बोधिसत्त्व बहुत दिनों तक हिमालय में रहने के बाद अपनी जीभ नमक-मिर्च आदि से चरपरी करने के लिए भिक्षा लेने शहर में आया। एक गृहस्थ ने उन्हें बदनाम करने के लिए समांस भोजन खिलाया और कहने लगा कि मैंने सोच-समझ कर वध किया और मांस पकाया था, उसे खाने वाला अवश्य ही पापभागी होगा। उत्तर में बोधिसत्त्व ने कहा कि कोई असंयत व्यक्ति अपने पुत्रादि का वध करके भी भोजन दान देता है, और यदि भोजन करने वाला प्रज्ञावान् एवं सचेत है तो वह पापलिप्त नहीं होगा।

जैन लोग जिन चार प्रकार की हिंसा का निषेध करते हैं, उससे जीवन में किसी भी प्रकार की बाह्य हिंसा का अवसर नहीं रह जाता। जैन लोग आलोयणा, पडिक्कमण आदि दस प्रकार के प्रायश्चित मानते हैं। (ठाणांग 10 ठा.)। उनमें अधिकांशतः तप की ही प्रधानता है। बौद्धसम्मत पाराजिक, संघादिसेसादि प्रायश्चितों में देहदण्ड या तप का स्थान ही नहीं है। सब में आत्मालोचन, दोष-स्वीकार, क्षमा-याचना आदि हैं। बौद्धों में सबसे बड़ा प्रायश्चित संघ से कुछ दिनों के लिए या सदा के लिए निष्कासन है, किंतु जैनों के यहाँ कायोत्सर्ग तक आदिष्ट है। वैदिक परम्परा में प्रधान रूप से प्रायश्चित का विधान यज्ञीय विधियों में किसी अंग की कमी होने पर उसे पूरा करने के लिए, दान करने के लिए अथवा पापमोचन के उद्देश्य से तप करने के लिए है। इसी दृष्टि से वैदिक लोग प्रायश्चित का अर्थ भी तप का निश्चय करते हैं। ऐसा नहीं कि जैन और वैदिक आलोचना या क्षमायाचना को प्रायश्चित का साधन मानते ही नहीं, किंतु उनके मत में अपराध निवारण का प्रमुख क्षेत्र तप और यज्ञ ही हैं।

इन सबका संग्रह *यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्* इस गीतावचन में आ जाता है। याज्ञिकों से जैनों का इतना अंतर अवश्य है कि जैन अपराध का क्षेत्र मनोभूमि मानते हैं किंतु दण्ड का क्षेत्र देह आदि बाह्य को। बौद्ध सभी स्थिति में चेतना और मन को प्रधानता देते हैं— *चित्तजेट्ठकं, चित्तधुरं चित्तपुब्बङ्गमं होति*। उनके मत में मन द्वारा की गयी दुःशीलताओं से बचाव भी मानसिक ही होगा, क्योंकि मिथ्या दृष्टि और संकल्प आदि उनके सभी सहयोगी मानसिक ही होते हैं—

चित्तसंकिलेसा भिक्खवे, सत्ता संकिलिस्संति
चित्तवोदाना विसुझंति।

(सं.3/151)।

यह कोई आवश्यक नहीं है कि शरीर आदि से वध कर दिया जाए तभी मन में हिंसा-चेतना

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 423

उत्पन्न हो, बल्कि उसके बिना भी उच्छिन्न कर दूँ, विनष्ट कर दूँ— इस प्रकार की व्यापादवृत्ति उत्पन्न हो जाने पर मन:कर्म उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी यह भी होता है कि काय तथा वाक् कर्म मनोद्वार तक पहुँचते ही नहीं। ऐसी स्थिति में वह दुश्चरित की कोटि में भी नहीं आएगा। उस स्थिति को केवल काय-कर्म वाक्-कर्म कह सकते हैं। इसके विपरीत मन-कर्म काय-वाक् आदि सभी ज्ञापक माध्यमों में उपस्थित हो सकता है। यह अवश्य है कि अनुशासन की दृष्टि से काय और वाक् का माध्यम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन्हीं के आधार पर अपराध होने पर प्रायश्चित का विधान हो सकता है। मनोद्वार ऐसा है कि तत्कृत अपराध उससे बाहर ज्ञापित नहीं हो सकते। बौद्ध जब अपराध का क्षेत्र बाह्य मानते हैं, तब उसके पीछे वर्तमान मानसिक स्थिति के आधार पर ही दण्ड की व्यवस्था करते हैं और उसका प्रयोग-क्षेत्र भी, अधिकतर मानसिक ही मानते हैं। जैनों से बौद्धों की दृष्टि में जो मतभेद है, उसका मूल बौद्धों का 'चेतना ही कर्म है'— यह सिद्धांत है। जैनों का कर्म सिद्धांत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वे कर्म को जड़-चेतन उभयरूप स्वीकार करते हैं और उसको आत्मा के अधीन कर देते हैं, जिससे मन और चेतना का स्वातंत्र्य बहुत सीमित हो जाता है। वैदिकों की बौद्धों से दूरी तो और भी अधिक है। वास्तव में सांख्य प्रभाव को हटाकर वैदिकों के नीति-निर्णायक तत्त्व को देखना चाहें तो वेद के वचन और मीमांसा के निर्णयों को छोड़ कर कोई आधार नहीं रह जाता, जिस पर पाप-पुण्य परिभाषित किये जा सकें। दूसरी ओर मीमांसकों की दृष्टि कभी भी यज्ञों से स्वतंत्र होती नहीं है। इस स्थिति में धर्म एवं नीति के निर्णय के लिए स्वतंत्र अवसर समाप्त हो जाता है।

जैनों से बौद्धों की दृष्टि में जो मतभेद है, उसका मूल बौद्धों का 'चेतना ही कर्म है'— यह सिद्धांत है। जैनों का कर्म सिद्धांत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वे कर्म को जड़-चेतन उभयरूप स्वीकार करते हैं और उसको आत्मा के अधीन कर देते हैं, जिससे मन और चेतना का स्वातंत्र्य बहुत सीमित हो जाता है। वैदिकों की बौद्धों से दूरी तो और भी अधिक है।

अहिंसा : अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियाँ

अहिंसा हिंसा के विरोध में समझी जाती है। इसलिए अहिंसा के स्पष्टीकरण के लिए देखना होगा कि हिंसा का उदय मन की किन परिस्थितियों में होता है और उस परिस्थिति में उसके विरोध में क्या-क्या लक्षण खड़े होते हैं। सामान्यत: हिंसा प्राणातिपात से जानी जाती है। प्राण का अर्थ जीवित या जीवन है, प्राण वह वायु है, जो एक प्रकार की ऊष्मा है, जो शरीर और चित्त के आश्रित है, उसके सातत्य को तोड़ देना उसका अतिपात या पतन करना है। क्षणिकवाद में मृत्यु का अर्थ प्रदीप-निरोध (वर्तमान शरीर के साथ नहीं रहना) अथवा जीवित रहने के संस्कार के निरोध से अधिक नहीं है। हाँ, कोई भी प्राणातिपात दोष के रूप में तब माना जाएगा, जब पहले से उसकी योजना (संज्ञा) हो और पूर्व निश्चित प्राणी ही मारा जाए, इसमें किसी प्रकार का संदेह या विपर्यय न हो—

प्राणातिपात: संचिन्त्य परस्याभ्रांतिमारणम्

(अ. को. 4/73)।

मन में यह चेतना आने के लिए यह भी आवश्यक है कि शरीर और वाणी उसमें प्रवृत्त हों, जो मन का माध्यम बने—*तस्मिं पन पाणे जीवितीन्द्रियुपच्छेदक-उपक्कम-समुट्ठापिका काय-वचीद्वारानं अञ्ञतरद्वारप्पवत्ता वधकचेतना पाणातिपातो* (अट्ठसा. 80) और उसकी स्थिति को विज्ञापित करे। बौद्ध लोग किसी मनोवृत्ति की अच्छाई या बुराई के निर्णय के लिए जितने प्रतिबंध मानते हैं, उन सबके तीन विभाजन करते हैं। बुराई के लिए अज्ञान या मोह, स्नेहराहित्य या द्वेष, आसक्ति या लोभ-ये ही अकुशलमूल हैं। अच्छाई के लिए इसके विरोधी कुशलमूल होते हैं।

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 424

मोह और द्वेष सदैव किंतु कभी–कभी लोभ भी वध–चेतना के कारण बनते हैं। इसके सहवर्तियों में अभिध्या के कारण दूसरे के महत्त्व और ऐश्वर्य को देखकर उसे निम्न बनाने की चेतना, जिससे दूसरे की सम्पन्नता अपनी हो जाए, उत्पन्न होती है। व्यापाद से दूसरे के हित–सुख को नष्ट कर देने की चेतना होती है। मिथ्या–दृष्टि विपरीत–बोध है। इससे अच्छा–बुरा समझने वाली प्रज्ञा के विरोध में चेतना उत्पन्न होती है (अट्ठसा. 83)। अभिध्या, व्यापाद और मिथ्या–दृष्टि के कारण क्रमशः राग, द्वेष और मोह तीव्र हो जाते हैं (अ. को. 4/44)। अभिध्या आदि तीनों के प्रवाह में जो चेतना तीव्रता से चलती है और काय–वाक् से समुत्थित रहती है, वह स्थिति हिंसा की कही जाएगी। तीनों हिंसा के लिए मानो मार्ग देते हैं— *त्रयो ह्यत्र पंथः* (अ. को. 4/78)।

उपर्युक्त प्रकार की चेतना का विरोध या प्रहाण ही शील है। साधारण रूप में इसे शील इसलिए कहते हैं, क्योंकि द्वेषादि के अभाव में मनुष्य को दाह नहीं होता, प्रत्युत शीतलता आती है। यह एक विशेष प्रकार का चित्तकर्म है, जो अपनी क्रिया को विज्ञापित नहीं करता, किंतु इसमें तीव्र क्रिया–शक्ति रहती है, क्योंकि शील के होने पर व्यक्ति काय–वाक् दुश्चरित से बचते रहते हैं और इसके न होने पर फिर घिर जाते हैं। जिस व्यक्ति में वधक–चित्त उत्पन्न होता है, उसके अंदर और बाहर एक विशेष प्रकार का कम्पन होता है (वि. मा. म. टी. 128)। उस कम्पन को न होने देना (*कम्पनाभावकरणेन समाधानं*) इसकी सफलता है। (वि. मा. म. टी. 128) यह इसलिए हो पाता है कि व्यक्ति भोग–निरपेक्ष होकर ही शील ग्रहण करता है, इसलिए उसमें क्षमाशीलता और सहिष्णुता के साथ महत्त्वपूर्ण आदर्श कार्यों के लिए उत्साह एवं वीर्य बढ़ जाता है (अ. आ. 311)। महायान के अनुसार ऐसा शुद्ध व्यक्ति ही परार्थ के लिए प्रस्थान कर सकता है।

कर्म के अचेतन स्वरूप तथा आत्मा के कर्तृत्व की मान्यता के अंश को छोड़कर देखें तो जैन अहिंसा का सैद्धांतिक स्वरूप बौद्धों की अहिंसा संबंधी मान्यता से बहुत भिन्न नहीं है। जैनों का 'भावकर्म' चेतन है और वह राग–द्वेष का ही परिणाम है। बौद्धों की तरह जैन भी मानते हैं कि 'भावकर्म' की दृष्टि से यदि हिंसावृत्ति मनुष्य में न हो, बाह्य हिंसा हो भी जाए तो उससे आत्मा कर्मबंधन का भागी नहीं होगा। *मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा* (प्र. सा. 2/17)। जैन मत में भी चारित्र्य की मान्यता है, जो मनुष्य को हिंसा आदि दुश्चरितों से रोकता है, आत्मा का दोषों से संवरण करता है। जैन दृष्टि में हिंसा का मूल 'प्रमाद' है। प्रमादवश किया गया प्राणवध हिंसा है। बौद्ध 'प्रमाद' को सुरापान आदि का कारण मानते हैं, किंतु इसमें दोनों समान हैं कि मोह, प्रमाद और हिंसा एक ही कोटि के चित्त–धर्म हैं।

जैन मत में भी चारित्र्य की मान्यता है, जो मनुष्य को हिंसा आदि दुश्चरितों से रोकता है, आत्मा का दोषों से संवरण करता है। जैन-दृष्टि में हिंसा का मूल 'प्रमाद' है। प्रमादवश किया गया प्राणवध हिंसा है। बौद्ध 'प्रमाद' को सुरापान आदि का कारण मानते हैं, किंतु इसमें दोनों समान हैं कि मोह, प्रमाद और हिंसा एक ही कोटि के चित्त-धर्म हैं।

सांख्य प्रभावित वैदिक परम्परा में पापों का उद्गम स्रोत चित्त वृत्तियाँ ही मानी गयी हैं, जिसे गीताकार ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है *काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः* (3/5) तथा *त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं... ... कामः क्रोधस्तथा लोभः* इत्यादि। यद्यपि गीता में इस प्रकार के विरोधी भावों की भी कमी नहीं है कि ईश्वर ही जीव को घुमा रहा है, व्यक्ति अत्यंत दुराचारी भी है, किंतु ईश्वर भक्त है, तो परम साधु ही है; फिर भी वैदिक धारा के अंदर योगियों द्वारा अहिंसा धर्म को समन्वित करने की अनेक

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 425

चेष्टाएँ की गयी हैं। इसका प्रारम्भ उपनिषदों में ही हो चुका था, जबकि *छांदोग्य* (3/17/4) में पुरुष के अंतर्यज्ञ के रूपक में तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन को उस यज्ञ की दक्षिणा मान ली गयी (*यत्तपोदानमार्जवमहिंसासत्य-वचनमिति दक्षिणाः*)।

योगवासिष्ठ में वैदिक कर्म के दो विभाग कर दिये या बाह्य और आंतर। आंतर कर्म की वहाँ श्रेष्ठता इसलिए स्वीकार की गयी है कि उसमें हिंसा नहीं है, ईश्वर कृष्ण की तरह से योगवार्तिककार तथा भाष्यकार ने वैध हिंसा को भी पाप माना है *भाष्यकारश्च वैधहिंसाया अपि पापहेतुत्वं प्रतिपादयिष्यति*। यहाँ इस ओर विशेष ध्यान देना होगा कि यज्ञ, तप, ईश्वर और आत्मा के चक्रव्यूह में अहिंसा का प्रवेश पाना और उसका वहाँ प्रतिष्ठित होना अहिंसा की क्षमता को प्रकट करता है।

अहिंसा : विधिपक्ष

अब तक के विवेचन से अहिंसा का मानसिक क्षेत्र और विशेषकर उसका निषेधात्मक स्वरूप कुछ स्पष्ट हुआ, जिसे अहिंसा का 'तटस्थ लक्षण' माना जा सकता है। अहिंसा का निषेध पक्ष हिंसा की उपस्थिति पर ही प्रकट होता है। यदि हम किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना कर लें, जिसकी स्वभावतः ऐसी उदात्त मनोदशा है और इतनी अनुकूल स्थिति है, जिसमें आजीवन उसके समक्ष हिंसा करने की स्थिति ही नहीं आयी, तो ऐसी हालत में उससे विरति का प्रश्न ही कहाँ उठेगा, अतः अहिंसा का विधिपक्ष विचारणीय है, जो निषेध की तीव्रता के पीछे शांत एवं गम्भीर बना रहता है। इस स्थिति को बौद्ध शब्दावली में 'अविहिंसा' कहते हैं। अविहिंसा करुणा है। बौद्धों में करुणा का महान् विकास हुआ है। थेरवाद में 'करुणा' मैत्री, मुदिता उपेक्षा के साथ एक ब्रह्म-विहार है, जिससे किसी के दुःख को देखकर साधु पुरुष के हृदय में एक प्रकार का कम्पन होता है और जिससे उद्वेलित होकर व्यक्ति उसके दुःख के विनाश की चेष्टा करता है (अट्ठ.157 पृ.)। ऐसा व्यक्ति पर के दुःख को सहन नहीं कर सकता और उसके अपनयन में तदाकाराकारित हो जाता है। महायान में यह करुणा 'अप्रमाण' हो जाती है, क्योंकि उसकी साधना का प्रारम्भ दूसरों के दुःख और दुःख कारणों को मिटा देने के प्रणिधान से होता है। इस प्रकार वह सर्वप्रथम प्रणिधि लेता है और फिर उसी दिशा में प्रस्थान कर जाता है। महायान में यह करुणा अपरिमित इसलिए हो जाती है कि वह किसी व्यक्ति को नहीं देखती, अपितु दुःखी जीवप्रवाह को देखती है। अर्थात् कारुणिक के समक्ष दुःखी व्यक्ति नहीं रहता, अपितु दुःख और उसका प्रवाह रहता है, जिसे वह हिंसा का रूप समझता है और उसे दूर करना चाहता है। जब तक दयालु मनुष्य के सामने व्यक्ति की सीमा रहती है, तब तक उसकी दया का आकार सीमित रहता है, फलतः वह दया महाकरुणा की कोटि में नहीं आती। जब संसार में दुःखसंतान के दर्शन से उसके विघात के लिए चेतना उत्पन्न हो, उसे ही 'अविहिंसा' या 'करुणा' कहते हैं। इसे वस्त्वालम्बना करुणा अथवा धर्मालम्बना करुणा कहते हैं। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्ति ने प्रमाणवर्तिक में कहा है :

वस्तुधर्मो दयोत्पत्तिर्न सा सत्त्वानुरोधिनी।
(1/197)
दुःखसंतानसंस्पर्शमात्रेणैवं दयोदयः।
(1/198)

इस अवस्था में मोह अथवा अज्ञान और द्वेष अथवा अमैत्री इसलिए उत्पन्न नहीं हो सकती कि उसके आलम्बन की सीमाएँ व्यक्ति आदि की दृष्टि से ही समाप्त हो गयी है। इसलिए एक सीमित दृष्टि से दया को अंगीकार करने वालों के प्रति महायानियों की यह शिकायत है कि ऐसे लोगों की दृष्टि में धर्म और मुक्ति स्वार्थ का साधन मात्र है। इनके द्वारा कोई लोकोपकार का महान् कार्य नहीं हो सकता। इसके विपरीत आदर्श व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता और स्वार्थ का लोभ छोड़कर अपने को लोक के अधीन कर देता है। आचार्य धर्मकीर्ति यह स्पष्ट करते हैं कि मंद करुणा से परार्थता का महान् उद्देश्य पूर्ण नहीं

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 426

हो सकता :

मंदत्वात् करुणायाश्च न यत्नः स्थापने महान्।
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा॥
(1/200)

यह महापुरुष लोक का अकारण वत्सल है, उसने अपने को दूसरों का उपकरण बना दिया है। लोक अङ्गी है वह अंग है; वह संसार में दुःख के विनाश के लिए निरंतर महान् यत्न में निरत है। इस कार्य में उसे इतना आनंद आता है कि वह निर्वाण को तुच्छ और नीरस समझने लगता है *मोक्षेणारसिकेन किम्*। अहिंसा का यही विधि पक्ष है और यही अहिंसक की उच्च मनोभूमि है, जिस पर पहुँचने के लिए प्रारम्भ में ही व्यक्ति में श्रद्धा, अप्रमाद, चित्त में स्फूर्ति, बुरा काम करने पर लोकलज्जा और आत्मग्लनि; शुभ करने के लिए चित्त में उत्साह आदि चेतनागत गुण अपेक्षित होते हैं।

अहिंसा : साधन एवं साध्य

उपर्युक्त विवेचन से अहिंसा जिस गम्भीर और उदार भावभूमि पर पहुँची है, उसके इस नवीन अर्थ को निषेधप्रधान अहिंसा शब्द बोध कराने में स्वयं असमर्थ प्रतीत होता है। इसलिए बाद में महायान ग्रंथों में अहिंसा या अविहिंसा का प्रयोग विरल मिलता है, उसके स्थान पर कृपा, करुणा या महाकरुणा, ये शब्द बहुधा प्रचलित हुए। इस नये विराट् अर्थ में प्रयुक्त अहिंसा शब्द सभी प्रकार की उपकारक मनोवृत्तियों, घटनाओं और आचरणों का संग्राहक माना गया। *धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयंति तथागताः* (चतुः 12/33, बो.अ. 5/97)। यहाँ अहिंसा साधन की दृष्टि से भी एक विशेष प्रकार के आचरण के रूप में विकसित हुई है जो आचरण की प्राचीन मर्यादाओं को तोड़ती है। इस विशेष स्थिति में प्रवृत्ति और निवृत्ति, भिक्षु और गृहस्थ का रूढ़ धर्मभेद शिथिल होने लगता है और जीवन में सहजता आने लगती है। किंतु इस स्थिति में अहिंसा को मात्र साधन कहना कठिन है, क्योंकि इस रूप में यह महान् साधन ही जीवन के लिए एक नये साध्य के रूप में प्रकट हो जाता है। यह महापुरुष अहिंसा में प्रतिष्ठित है, इसलिए इसकी मध्यस्थ दृष्टि है, संसार या निर्वाण, व्यवहार या आदर्श में किसी एक में आसक्त नहीं है। यह नीति और धर्म का स्वतंत्र निर्णय ले सकता है। मान्यताओं के निर्णय लेने में अधिक सक्षम हो जाता है।

अहिंसा की इस भावभूमि का विवरण यद्यपि यहाँ बौद्ध स्रोतों से किया गया है, किंतु इसकी व्यापकता से अन्य धाराएँ भी अपरिचित नहीं थीं। जैन अहिंसा के लिए 'सामायिक' धर्मों को आवश्यक समझते हैं। सामायिक या 'समता' वह धर्म है, जिसका कोई सीमा-बंध नहीं है। *दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः समता* (तत्त्वार्थसार 4/80) *पण्णसमत्ते सया जये समता* (सू. ग. 2/2)। उस समता का कारण आत्म-ज्ञान एवं आत्मौपम्य है। इस प्रकार की समता के लिए श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र का उत्तरोत्तर विकास आवश्यक है। रागद्वेषादि के अधीन न होकर सामायिक चरित्र का विकास करना जैन साधना के लिए प्रथम आवश्यक है। *णहि णूण पुरा अणुस्सूयं अटुवा तं तह णो समुट्ठियं* (सूयगडो 2/2)। चरित्र से एक विशेष प्रकार की माध्यस्थ्य-दृष्टि का विकास होता है, जिससे रागद्वेषादि विनष्ट होते हैं और मनुष्य में गुणों का उत्तरोत्तर उत्क्रमण होता है। इस क्रम से व्यक्ति असीमता की ओर बढ़ता जाता है। महाभारत में भी अहिंसा की विशालता को बताते हुए कहा गया है कि जैसे हाथी के पैर में सभी पैर समा जाते हैं, वैसे अहिंसा में सभी धर्म और अर्थ अंतर्भुक्त रहते हैं। अहिंसा का लक्षण करते हुए योगभाष्यकार कहते हैं कि सभी प्राणियों के प्रति सब समय में और सब प्रकार की मैत्री ही अहिंसा है। (*सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः* यो. भा. 2/30)। जितने यमनियमादि हैं, उनका मूल कारण अहिंसा ही है, अहिंसा के बिना इनका पालन व्यर्थ है, अहिंसा की सिद्धि के लिए यमनियमादि का अनुष्ठान किया जाता है, और अहिंसा को विशुद्ध करने के लिए इनका पालन किया जाता है *तदवदातरूपकरणायैवोदीयंते* (2/30)। अहिंसक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत कोई प्रयोजन नहीं है, एकमात्र लोकानुग्रह ही

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 427

उसका महान् प्रयोजन है। *आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्।* (यो. सू. भा. 1/25)।

अहिंसा : तत्त्वदर्शन

प्राचीन भारत में जहाँ तक अहिंसा का विकास हुआ था और सामाजिक तथा धार्मिक साधना में उसकी प्रतिष्ठा हुई थी, उसके पीछे कौन-सी प्रेरक दार्शनिक दृष्टि थी, उसका विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उससे भी विकास की दिशा तथा उसकी सीमा ज्ञात होती है। उसी के आधार पर पुन: विकास की अग्रिम सम्भावनाओं की भी समीक्षा की जा सकती है। जैन और वैदिक आत्मवादी हैं, अत: दोनों ही आत्मौपम्य के आधार पर ही अहिंसा और समत्वदृष्टि की स्थापना करते हैं। जैनों में ईश्वर का हस्तक्षेप न होने से तथा आत्मा का स्तर-भेद होने से एवं उसमें गुणोत्कर्ष का सिद्धांत स्वीकार कर लेने से कर्म-सिद्धांत के विकास के लिए कुछ तार्किक स्वतंत्रता मिल जाती है। कर्म के इस स्वतंत्र क्षेत्र में और ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा के विकास के लिए पर्याप्त अवसर हैं। वैदिकों के आत्मवाद में सबसे अधिक उदार उपनिषदें और गीता समझी जाती हैं। किंतु उसका सारा ज़ोर इस पर है कि आत्मा अच्छेद्य, अभेद्य है, वह किसी भी विधि-निषेध से प्रभावित नहीं है। मन को अनासक्ति की भूमि पर रखकर शास्त्रानुमोदित हिंसा अथवा अहिंसा कर लेनी चाहिए। *कौषीतकी उपनिषद्* के मत में आत्मविद् का माप उसके कर्म से नहीं किया जा सकता। माता-पिता के वध से, चोरी या भ्रूणहत्या से भी उसे पाप नहीं लगता। वास्तव में कर्म ऐसे व्यक्ति का एक रोम भी टेढ़ा नहीं कर सकता '*तस्य मे तत्र न लोम च नामीयते...न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं' कौषीतकी* 3/1)। ऐसी आत्मवादी धारा के साथ सर्वकर्ता एवं सर्वज्ञ ईश्वर भी जुट जाता है। वह जिसकी अधोगति चाहता है, उससे पाप कराता है और जिसका उन्नयन चाहता है, उससे पुण्य कराता है। *एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते; एष उ एवैनं असाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते।* (क्रौ. ब्रा. 3/9)। इस स्थिति में कर्माश्रय आत्मा तथा कर्मप्रेरक ईश्वर के बीच अहिंसा को जो कुछ अवसर मिल सका, वही पर्याप्त है।

बौद्ध यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि आत्मवाद में अहिंसा के लिए अवसर है। आर्यदेव यह कहते हैं कि नित्य आत्मा के साथ अहिंसा की कौन-सी कारणता मानी जाए, क्या वज्र को कीड़ा चट न कर जाए, इसके लिए भी उसकी रक्षा का उपाय ढूँढ़ा जाए? (चतु: 10/6) इस निबंध के मुख्यांश से अहिंसा के संबंध में बौद्धों का यह विचार स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा का उद्‌गम आचरण तथा चेतना के क्षेत्र में ही सम्भव है। उसका निषेधात्मक रूप शील है, जो विशेष प्रकार की चेतना है। उसके द्वारा व्यक्ति किसी भी प्रकार की हिंसा का विरोध करता है और अपने कुशल व्यक्तित्व को सुरक्षित रखता है अहिंसा का विधिरूप करुणा है, जो प्रज्ञा या बुद्धि से अभिन्न है, या उससे समर्थित है। आत्मवादी अनंत आत्माओं में आत्मौपम्य के द्वारा समता लाना चाहते हैं, किंतु बौद्ध शून्यता के द्वारा आत्मा का महत्त्व तोड़कर 'सर्व' को अपने समक्ष रखते हैं। इसी दृष्टि से आचार्य आर्यदेव कहते हैं, तथागत के धर्मोपदेश का सारतत्त्व दो ही हैं— अहिंसा और शून्यता— *धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयंति तथागता:।* (*चतु:शतक* 12/13) शून्यता समता या प्रज्ञा है, करुणा अहिंसा की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार समता या प्रज्ञा के आधार पर ही अहिंसा द्वारा करुणा की प्रतिष्ठा हो सकती है। इस बौद्ध विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अहिंसा का एक पहलू प्रज्ञा है और दूसरा करुणा है। यह सब कुछ मनुष्य के चित्त और भावनाओं का ही स्वतंत्र स्फुरण है। यह मनुष्य की ही साधना है; उसी का आध्यात्मिक शौर्य है। इसीलिए बौद्धों की दृष्टि आत्मा की अमरता और प्रभु की ईश्वरता की ओर नहीं घूमती। प्रश्न उठता है कि अहिंसा का नित्यवाद से यदि कोई सम्पर्क नहीं है, तो आत्मवादियों में इतना भी अहिंसा का विकास कैसे सम्भव हुआ? उत्तर स्पष्ट है कि इन बाधाओं के बाद भी अहिंसा का आचरणगत

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 428

स्वतंत्र विकास जीवन और समाज की समस्याओं के बीच स्वाभाविक रूप में होता है, जिसमें शाश्वतवादी दृष्टि बाधा डालती है।

यहाँ एक दूसरा विचारणीय प्रश्न उठता है कि अहिंसा का विकास जब इस कोटि तक पहुँच गया था कि व्यक्ति का आदर्श और कर्तव्य केवल परार्थ जीवित रहना है और जीवनोपरांत भी कोई अन्य आदर्श या स्थिति स्वीकार नहीं करना है; तो ऐसी स्थिति में मनुष्य ने समाज, राज्य एवं अन्य राज्यों में स्पर्धा, संघर्ष और क़ब्ज़ा करने के आधार पर अज्ञातकाल से प्रचलित व्यवहारों में परिवर्तन क्यों नहीं कर लिया? इसी का उत्तर हम महात्मा गाँधी के प्रयासों से कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

अहिंसा का उपर्युक्त आदर्श-चित्र चाहे कितना भी गम्भीर और व्यापक क्यों न हो, किंतु जब तक उसके सामूहिक प्रयोग की विधि नहीं निकलेगी, तब तक अहिंसा के आदर्श से सामाजिक और राजकीय प्रश्न प्रभावित नहीं हो सकेंगे। महात्मा गाँधी को अहिंसा के एकांगी-पन का भान था, अतः उन्होंने भारतवर्ष में जीवन के अनेक क्षेत्रों में तथा राजनीति में सामुदायिक आधार पर उसका प्रयोग किया। इन प्रयोगों से अहिंसा की सामूहिकता के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ा और उसके प्रयोग-कौशल का प्रशिक्षण भी मिला। गाँधीजी भी अहिंसा को विकास के क्रम में देखते हैं और आगे उसमें विकास का अनंत अवकाश मानते हैं। वे इन सबके पीछे व्यक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हैं। उन्हें एकात्मवाद के आधार पर जीवन की अखण्डता पर विश्वास है। उनका अखण्डता का यह सिद्धांत जगत् के मिथ्यात्व-सिद्धांत पर निर्भर नहीं है, अपितु जीव-जगत् सबको सत्य मानते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त प्राणियों को भी वे महत्त्व देते हैं, किंतु एक सीमा तक ही। जीवन की अखण्डता जगत् के मिथ्यात्व पर आधारित न होने के कारण गाँधीजी की अखण्डता जगत् से अतीत और अनिर्वचनीय नहीं, प्रत्युत यथार्थ ही है। इस प्रकार की अखण्डता के अनुबंध में व्यक्ति को अनिवार्य रूप से वह खड़ा मानते हैं। इसलिए उनके मत में व्यक्तित्व का स्वरूप और उसका अधिकार एवं कर्तव्य पुराने धार्मिक, राजनीतिक एवं दार्शनिक व्यक्तिवादियों से बहुत कुछ भिन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का जगत् के साथ स्वाभाविक तथा आदर्श संबंध वह अहिंसा में ही मानते हैं। इनकी अहिंसा कोई रूढ़ धर्म नहीं, प्रत्युत उनके अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में उसके नये-नये रूपों की सम्भावना बनी रहती है।

गाँधी को अहिंसा के एकांगी-पन का भान था, अतः उन्होंने जीवन के अनेक क्षेत्रों में तथा राजनीति में सामुदायिक आधार पर उसका प्रयोग किया। इन प्रयोगों से अहिंसा की सामूहिकता के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ा और उसके प्रयोग-कौशल का प्रशिक्षण भी मिला। गाँधीजी भी अहिंसा को विकास के क्रम में देखते हैं और आगे उसमें विकास का अनंत अवकाश मानते हैं। वे इन सबके पीछे व्यक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हैं।

गाँधीजी की अहिंसा के तीन प्रकट पक्ष या शर्त हैं— (1) स्वाभाविकता, (2) सक्रियता और (3) अविवेक। अहिंसा की स्वाभाविकता से उनका अभिप्राय है— जीवन में प्रवहमान व्यापक सत्य को प्रकट करने की क्षमता, जिससे जीवन की अखण्डता का साक्षात्कार हो सके। इस प्रकार अहिंसा की स्वाभाविकता इसमें है कि उससे प्राणियों की मूलभूत एकता प्रकट होती है। इसलिए गाँधीजी के शब्दों में 'सांसारिक बातों में अहिंसा का आचरण करना उसका सच्चा मूल जानना है।' इसी आधार पर गाँधीजी अहिंसा का सत्य तथा धर्म के साथ अनिवार्य संबंध मानते हैं। वे कहते हैं, 'अहिंसा और सत्य को एक दूसरे से अलग करना असम्भव है', 'जो धर्म व्यवहार की बातों की परवाह नहीं करता

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 429

और उन्हें हल करने में सहायक नहीं होता, वह धर्म ही नहीं है।'

गाँधीजी अहिंसा की अपरिमित शक्तियों के विकास के लिए श्रद्धा को एक मूलभूत तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार जिस श्रद्धा और प्रयास से वैज्ञानिक लोग प्रकृति की शक्तियों की खोज करते हैं, वैसी ही श्रद्धा से अहिंसा की शक्ति की खोज करने और उसके नियमों को काम में लाने की आवश्यकता है। गाँधीजी बुद्धि को सर्वज्ञ नहीं मानते, इसलिए वे जो बुद्धि से परे हो, उसे ही श्रद्धा के अंतर्गत मानते हैं। उनकी दृष्टि में श्रद्धा आत्मविश्वास है, जो सभी विरोधी हिंसक परिस्थितियों में अहिंसक व्यक्ति को अटूट विश्वास प्रदान करता है। अनुकूल एवं प्रतिकूल फल होने पर श्रद्धा हर्ष और विषाद में उसे धैर्य प्रदान करती है। जिस श्रद्धा को धर्मों ने अज्ञात तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना, उसे गाँधीजी ने अहिंसा के साथ जोड़कर श्रद्धा को एक वैज्ञानिक खोज का सशक्त उपकरण बताया। इस प्रकार गाँधीजी ने एक ओर श्रद्धा को अंध श्रद्धा होने से बचाया, दूसरी ओर अहिंसा के साथ उसे जोड़कर अहिंसा को अधिक सक्रिय बनाया।

जिस श्रद्धा को धर्मों ने अज्ञात तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना, उसे गाँधीजी ने अहिंसा के साथ जोड़ कर श्रद्धा को एक वैज्ञानिक खोज का सशक्त उपकरण बताया। इस प्रकार गाँधीजी ने एक ओर श्रद्धा को अंध श्रद्धा होने से बचाया, दूसरी ओर अहिंसा के साथ उसे जोड़कर अहिंसा को अधिक सक्रिय बनाया।

गाँधीजी के समक्ष दो बातें स्पष्ट थीं (1) अहिंसा एक विकासशील प्रक्रिया है, और (2) उसका प्रयोग व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक भी हो सकता है। वे कहते हैं कि यह मानना गहरी भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही अच्छी है और जनसमूह के लिए नहीं (ह. 5-9-36)। अहिंसा के विकास के संबंध में वे कहते हैं— 'मानवजाति ने अहिंसा की दिशा में बराबर प्रगति की है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि उसे उस तरफ़ और भी ज़्यादा बढ़ना है। संसार में स्थिर कुछ भी नहीं है, सब कुछ गतिशील है— (हरि. 11-8-40)'। अन्यत्र वे कहते हैं— 'मेरी राय में अहिंसा केवल व्यक्तिगत सद्‌गुण नहीं है, वह एक सामाजिक सद्‌गुण भी है, जिसका विकास अन्य सद्‌गुणों की भाँति किया जाना चाहिए (यं. इ. 7-1-38)'। उक्त दो मान्यताओं से संबंधित दो बातें और भी हैं जिन पर गाँधीजी ज़ोर देते हैं—(1) व्यक्ति का महत्त्व और (2) जीवन की अखण्डता का सिद्धांत। व्यक्ति की दृष्टि से वह संख्या का महत्त्व नहीं मानते। गुण का महत्त्व मानते हैं, वे कहते हैं, 'हर एक बड़े ध्येय के लिए जूझने वालों की संख्या का महत्त्व नहीं होता, जिन गुणों से वे बने होते हैं, वे ही गुण निर्णायक होते हैं। संसार के महान् से महान् पुरुष हमेशा अपने ध्येय पर अकेले डटे रहते हैं' (यं. इ. 10-11-29)। गाँधीजी जब भक्ति पर इतना ज़ोर देते हैं और साथ में यह भी कहते हैं कि अहिंसा सामुदायिक गुण है तो विरोधाभास मालूम होता है। इसे दूर करने के लिए वे जीवन की अखण्डता का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार परमाणुओं के बीच जैसे संयोजन शक्ति मौजूद है, वैसे ही चेतन प्राणियों में है। वे कहते हैं— 'जिस प्रकार जड़ प्रकृति में संयोजन-शक्ति है, उसी प्रकार चेतन प्राणियों में होनी चाहिए। हमें समस्त प्राणियों के बीच उस शक्ति का उपयोग सीखना चाहिए।' (यं. इं. 5-5-20)।

गाँधीजी ने अपने को अद्वैतवादी कहा है किंतु उनके मत में जीवन की अखण्डता जगत् के मिथ्यात्व पर आधारित न होने के कारण गाँधीजी की अखण्डता जगत् से अतीत और अनिर्वचनीय नहीं, प्रत्युत यथार्थ है। इस प्रकार की अखण्डता के अनुबंध में व्यक्ति को वह खड़ा करना चाहते हैं। इसलिए उनके मत में व्यक्तित्व

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 430

का स्वरूप उसका अधिकार एवं कर्तव्य पुराने धार्मिक तथा राजनीतिक, दार्शनिक व्यक्तिवादियों से बहुत कुछ भिन्न हो जाता है। वे कहते हैं— 'हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा ।' (ह. 27-5-39)। ऐसे व्यक्ति का जगत् के साथ स्वाभाविक तथा आदर्श संबंध गाँधीजी अहिंसा को ही मानते हैं और कहते हैं—'अवश्य ही समाज का नियमन ज़्यादातर आपस के व्यवहार में अहिंसा के प्रगट होने से होता है, मेरा अनुरोध इतना ही है कि उसका राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर अधिक विस्तार किया जाए' (ह. 7-1-39)। इसलिए गाँधीजी की दृष्टि में अहिंसा कोई रूढ़ धर्म नहीं, प्रत्युत विभिन्न परिस्थितियों में उसके नये-नये रूपों की सम्भावना बनी रहती है।

अहिंसा का सामूहिक प्रयोग मानवीय इतिहास को गाँधीजी की नवीन देन है। किंतु उनकी अहिंसा के साथ एक विरोधाभास भी लगा है, जिससे अहिंसा कुण्ठित होती है। वह विरोध है अहिंसा के साथ परम्परागत कुछ विश्वासों को जोड़ने का आग्रह करना, जिनमें ईश्वरवाद एवं आत्मवाद प्रमुख हैं।

अहिंसा की सक्रियता से गाँधीजी का अभिप्राय उसकी गतिशीलता और तेजस्विता से है। उन्होंने कहा है— 'मेरा अहिंसा धर्म अत्यंत सक्रिय एवं तेजस्वी है'—(यं. इं. 17-6-27)। धर्म अपूर्ण है, इसलिए वह सदा विकसित होता रहेगा और बार-बार उसके नये-नये अर्थ किये जाते रहेंगे। केवल ऐसे विकास के कारण ही सत्य और ईश्वर की ओर प्रतिदिन प्रगति करना हमारे लिए सम्भव है—(यरवडा मंदिर पृ. 38)। यहाँ ध्यान देने की बात है जिस गतिशीलता और व्यावहारिक अहिंसात्मक साधन से सत्य का साक्षात्कार गाँधी जी मानते हैं, वह सत्य भी परिवर्तनशील और व्यावहारिक होगा। साधनरूप अहिंसा से साध्यरूप सत्य के अभिन्न होने का अभिप्राय है कि गाँधीजी का सत्य परम्परागत अर्थ में अपरिवर्तनीय एवं नित्य नहीं है। यहाँ तक कि गाँधी जी सत्य-शोध के बीच आयी हुई भूलों को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं- 'सत्य ईश्वर का सही नाम है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का पालन करे तो उसमें कुछ बेजा नहीं है। बेशक वैसा करना उसका कर्तव्य है। फिर उस प्रकार सत्य-पालन में किसी से भूल हो जाती है, तो वह अपने आप ही ठीक हो जाएगी'— (म. प्र. 1945, पृ. 2-3)।

अहिंसा की तीसरी शर्त विवेक है। गाँधीजी के मत में विवेक शास्त्रवाद और बुद्धिवाद दोनों से भिन्न और व्यापक है। गाँधीजी कहते हैं— 'सत्य किसी धर्म ग्रंथ की सम्पत्ति नहीं है।' (यं. इं., पृ. 25, 35) अन्यत्र कहते हैं— 'शास्त्रों की रचना करना मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं है, मेरा क्षेत्र तो कार्य है, जिसे मैं अपनी बुद्धि से अपना कर्त्तव्य मानता हूँ उसे मैं करता हूँ' (ह., पृ. 3-3-46)। बुद्धि के संबंध में गाँधीजी कहते हैं— 'कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनमें बुद्धि हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।' (ह., पृ. 3/37)। गाँधी जी विवेक-बुद्धि को ईश्वर की मान्यता देते हैं और कहते हैं— 'ईश्वर विवेक-बुद्धि है, वह नास्तिक की नास्तिकता भी है' (यं. इं. पृ., 5-3-25)।' इसीलिए गाँधीजी शास्त्रसम्मत ईश्वर को नहीं मानते। वे कहते हैं— 'संसार में अनेक असत्यों का प्रतिपादन करने वाले साधनों में एक प्रमुख साधन वह शास्त्र भी है, जो ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करता है' (ह., पृ. 23-3-40)।

गाँधीजी के विभिन्न कालीन उद्धरणों के आधार पर उनकी दृष्टि से अहिंसा का जो स्वरूप प्रकट होता है, उससे निम्नलिखित बातें प्रतिफलित होती हैं—(1) प्राचीन भारतवर्ष में अहिंसा का जैसा स्वतंत्र और स्वगत विकास हुआ, उस विकसमान स्वरूपता को गाँधीजी भी स्वीकार करते हैं। (2) अहिंसा की उस धारा में गाँधीजी ने सामूहिक प्रयोग का नवीन कौशल

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 431

प्रस्तुत किया है। (3) गाँधीजी ने अहिंसा के गतिशील संदर्भ में ही शाश्वतवादी परम्पराओं से प्राप्त सत्य, धर्म, ईश्वर, आत्मा आदि से संबंधित सभी विश्वासों को जोड़कर उन्हें भी गतिशील बनाने की चेष्टा की हैं। संक्षेप में, गाँधीजी का नयापन यह है कि अहिंसा का प्राचीन उपदेश, जिसकी दिशा मानसिक और व्यक्तिगत उन्नति थी, उसे गाँधीजी ने सांसारिक बनाया। इससे यह फलित होता है कि अहिंसा की विकसमानता को स्वीकार करके गाँधीजी ने उसकी परिवर्तनकारी शक्ति पर लोगों की आस्था पहले से अधिक जगाई है।

अहिंसा का सामूहिक प्रयोग मानवीय इतिहास को गाँधीजी की नवीन देन है। किंतु उनकी अहिंसा के साथ एक विरोधाभास भी लगा है, जिससे अहिंसा कुण्ठित होती है। वह विरोध है अहिंसा के साथ परम्परागत कुछ विश्वासों को जोड़ने का आग्रह करना, जिनमें ईश्वरवाद एवं आत्मवाद प्रमुख हैं। ईश्वर एवं आत्मा की नित्यता के साथ अहिंसा की तीव्र गतिशीलता को जोड़ने का प्रयास उसकी गतिशीलता को बहुत सीमित कर देता है।

गाँधीजी विशुद्ध प्रयोगमार्गी थे। स्पष्ट है कि वे बुद्ध आदि की तरह तत्त्व-चिंतक नहीं थे और न ही उनके विचारों में तत्त्व-मीमांसा बनने की क्षमता है। उनके विचारों के आधार पर योगदर्शन की तरह प्रयोग-दर्शन बनने की सम्भावना की जा सकती है जो समाज-धर्मदर्शन होगा। इस प्रयोगदर्शन के पीछे यदि किसी प्रकार का तत्त्व-मीमांसा संबंधी विचार आवश्यक होगा तो उसमें आत्मा, ईश्वर, धर्म और नीति आदि से संबंधित शाश्वतवादी एवं अपरिवर्तनवादी मान्यताएँ सहायक नहीं होगी।

गाँधीजी विशुद्ध प्रयोगमार्गी थे। स्पष्ट है कि वे बुद्ध आदि की तरह तत्त्व-चिंतक नहीं थे और न ही उनके विचारों में तत्त्व-मीमांसा बनने की क्षमता है। उनके विचारों के आधार पर योगदर्शन की तरह प्रयोग-दर्शन बनने की सम्भावना की जा सकती है जो समाज-धर्मदर्शन होगा।

इस प्रयोगदर्शन के पीछे यदि किसी प्रकार का तत्त्व-मीमांसा संबंधी विचार आवश्यक होगा तो उसमें आत्मा, ईश्वर, धर्म और नीति आदि से संबंधित शाश्वतवादी एवं अपरिवर्तनवादी मान्यताएँ सहायक नहीं होगी। फलतः इसके लिए दर्शन की परिवर्तनवादी धारा स्वीकार करनी होगी अथवा आत्मा, ईश्वर आदि को अत्यंत गतिशील अनित्य तत्त्वों के रूप में प्रतिपादित करना होगा, जो प्रायः असम्भव है।

इस प्रकार प्रयोग-मार्ग की दिशा में गाँधी दर्शन बनना अभी बाक़ी है। इसके दर्शन बनने के लिए गाँधीजी की अनुभूतियाँ तथा प्रयोग-विधियाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। गाँधीजी को अपने जीवन के 50 वर्षों में समय-समय पर जैसा अनुभव हुआ तदनुसार आचरण किया और तत्काल सबके समक्ष उसे अभिव्यक्त कर दिया। फलतः आगे से पीछे तक उनके बहुत से अनुभवों में और विचारों में विसंगतियाँ मिलती हैं। इन विसंगतियों से बचने के लिए उन्होंने अपने अगले अनुभवों के आधार पर पीछे की बातों को सुसंगत कर लेने का अनेकों बार सुझाव दिया है। वास्तव में उनका यह सुझाव भी उन पर पूरी तरह से लागू नहीं होता। अतः आज के विचारकों पर ही यह भार है कि गाँधीजी के सम्पूर्ण उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उनमें अनुस्यूत विचारों के बीच संवाद-सूत्र निकालें और उनकी क्रांतिकारी दृष्टि के सारतत्त्व की रक्षा करते हुए बौद्धिक और व्यावहारिक आधार पर उसे समन्वित करें, उसे शास्त्रीयता प्रदान करें। यह भी स्पष्ट है कि शास्त्रीयता लाना गाँधीजी को कभी स्वीकार नहीं था, किंतु विचारों को जीवित रखने का और उनमें स्थायित्व लाने का दूसरा कोई व्यावहारिक मार्ग नहीं है। गाँधीजी से संबंधित दिशा में यदि कुछ किसी को करना है,

32_upadhaya_Layout 1 5/7/2014 3:22 PM Page 432

तो उसे यह ध्यान रखना होगा कि उन्हीं के अन्य वचनों से विरोध सम्भावित है। इसलिए यथासम्भव की स्थिति में रहकर ही बौद्धिक ईमानदारी बरती जा सकती है। इसलिए गाँधीजी के अध्येताओं का यह कर्तव्य है कि तर्क और परीक्षण के बीच ही गाँधी की अहिंसा का स्वतंत्र विवेचन करें और इस प्रकार गाँधी विचारों को नयी-नयी समस्याओं के बीच उज्जीवित रखें और विकसित करें।

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीविंत पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
–धम्मपद, गाथा 130।

अर्थात् सभी प्राणी दण्ड से आतंकित होते हैं। सभी को अपना जीवन प्रिय है। अत: सबको अपना जैसा समझ कर न किसी की हिंसा करें न आघात पहुँचाए।

जह ते न पिअं दुक्खं जाणिय एमेव
सब्बजीवाणं।
सव्वायरमुवउत्तो अत्तोवम्मेण कुणसु दयं॥
–समणसुत्तं, गाथा 150।

अर्थात् जैसे तुम्हें दु:ख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवों को दु:ख प्रिय नहीं है। अत: सबको अपना-जैसा समझ पूर्ण आदर के साथ सब पर दया कर।

साभार : पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय (2011), *बौद्ध मनीषा,* केंद्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, चोकगलमसर, लेह (लद्दाख).